

बोधिसत्त्व / शिव का गोत्र क्या है?

शिव का गोत्र क्या है?
यह पूछने पर मिलता है उत्तर कि
स्वर्यं शिव का कोई गोत्र नहीं!

शिव का वर्ण क्या है?
यह पूछने पर मिलता है उत्तर कि
स्वर्यं शिव का कोई वर्ण नहीं!

शिव का कुल क्या है?
यह पूछने पर मिलता है उत्तर कि
स्वर्यं शिव का कोई कुल नहीं!

ऐसे कुलहीन गोत्रहीन वर्णहीन
वे महादेव शिव किसी का भी गोत्र
वर्ण कुल नहीं पूछते!

शिव भक्ति देखते हैं गोत्र वर्ण नहीं।
उनके लिए मर्म ही मूल है
कर्म ही कुल है!

वे राम नहीं
उनके लिए कोई पराया नहीं
उनके लिए कोई शूद्र नहीं
न कोई असुर न दैत्य न राक्षस
न ब्राह्मण न कोई पवित्र न कोई अशुद्ध
न कुछ अशुभ न कछु अमंगल
न कोई उच्च न कोई क्षुद्र!

शिव के लिए न कोई स्त्री है कोई देवता
शिव कोई विधि न कोई विधाता!

शिव को देखो
शिव किसी तपस्यारत शंखक की हत्या नहीं करते
शिव किसी को भी नहीं त्यागते
शिव किसी को भी नहीं देते
शिव किसी को भी नहीं दुःखारते
शिव किसी से नहीं मांगते!

शिव सिर्फ देते हैं
मंह मांगा मन चाहा
तभी तो वे आशुतोष हैं
तभी तो वे शिव अवढ़दानी हैं।

अपनी लंका दे दी रावण को
अपने त्रिशूल पर टिका लेते हैं काशी
गंगा को अपनी जटा में रख लेते हैं
अपनी काया बाट लेते हैं आधा
प्रिया पार्वती से
बन जाते हैं अर्धनारीश्वर
वे शिव तभी तो हैं महेश्वर!

शिव भोले हैं
नहीं अभिमानी हैं।
शिव गोत्र हीन हैं
शिव अकुलीन हैं अकुल हैं
कुलहीनों के नाथ हैं
तभी तो शिव विश्वनाथ हैं।

वे शिव विष पीकर संसार को देते हैं अमृतदान
और नीलकंठ बन जाते हैं
वे शिव अहंकारी त्रिपुरों के विनाश के लिए
त्रिपुरारी बन जाते हैं।

शिव कृटनीतिज्ञ कृष्ण नहीं
शिव दैत्यों के अरि विष्णु नहीं!

शिव कर्मयोगी हैं
गोत्रयोगी नहीं
वर्णयोगी नहीं।

शिव ने असुरों के गुरु शृङ्काचार्य को संभव किया
दिया उनको सजीवनी का ज्ञान
असुरों को अमरता का सूत्र देते
वे न सकुचाएं
गले में नाग की माला पहने
शरीर पर चिता की भस्म रमाएं
वे बेघर भोलेभंडारी बाबा शिव
मूर्ख लोभी भस्मासुरों की समझ में कब आए?

कहानियों में जीना-मरना

कहानी के पीछे पगलाए घूमना हर किसी के मिजाज में नहीं होता। न जाने कितनी बार मैंने अपने भाइयों के पैर दबाए, उनसे किसी फिल्म की कहानी सुनने के लिए। गर्मी की दुपहरियों में घंटों लुरखुर काका की गाय-भेंसों पर नजर रखी ताकि लोरिक-संवरू और दयाराम ग्वाल के पंवारे सुनते हुए उनकी कल्पना और लयकारी में कोई खलत न पड़े। अकबर-बीरबल, शीत-बसंत और राजा भरथरी के किस्से चिथरू चाचा से सुनने के लिए जाड़ों की शाम सूरज झुकने के भी घंटा भर पहले मैं उनके दरवाज पर हाजिरी लगा देता था।

उनके कई सारे काम तब अधबीच में होते थे और वहां मेरी असमय उपरिथित से परेशान उनके घर वाले हिकारत से मुझे देखकर मुंह बिचका देते थे। फिर उपन्यास पढ़ने की उम्र हुई तो इसके लिए बड़ों की निर्लंज चापलूसी, यहां तक कि चोरी-चकारी जैसा कर्म भी मुझे कभी अटपटा नहीं लगा। कहानियों के पीछे इस दीवानगी की एक बड़ी बजह अपने परिवेश से अलगाव और मन पर छाए गहरे अकेलेपन से जुड़ी हो सकती है। लेकिन बाद में लगा कि यह कोई वैसी अनोखी बात नहीं है, जैसी शुरू में मुझे लगा करती थी।

किसी मुश्किल से मुश्किल बात को भी अगर कहानी की तरह सुनाया जा सके तो इससे दो नतीजे निकलते हैं। एक यह कि सुनाने वाला बात को अच्छी तरह समझ गया है। दूसरा यह कि जिसे सुनाई जा रही है, बात का काफी हिस्सा उसकी समझ में आ जाएगा। झूठ और गप्पे से घिरे हुए इस समय में ज्यादातर लोग बातों को समझ



लेने का ढोंग भर करते हैं। तकनीकी जुमलेबाजी से भरी बातें अक्सर बताई भी इसीलिए जाती हैं कि लोग उन्हें न समझें और ऊबकर या नासमझ मान लिए जाने के डर से मुंदी हिलाकर छुट्टी पा लें। और तो और, काफी सारे साहित्यिक कथ्य पर भी यह बात लागू होती है!

कुछ समय पहले एक श्रिलंकर से गुजरते बक्त उसमें आए इस वाक्य पर नजर अटक गई— ‘हम कहानियों के लिए जीते हैं, कहानियों के लिए ही मरते हैं।’ क्या सचमुच? तनख्वाह में हर पांचवें साल एक नया जीरो जोड़ते हुए आगे बढ़ने वाले एक कामयाब परिचित से न जाने किसी री में एक दिन अचानक मैंने पूछ लिया, ‘तुम्हरे बच्चे कभी तुमसे तुम्हारी कहानी सुनना

- साइबर नजर

ग्रांट की एजेन्टी ले दियी है?

राजेश चंद्र

दलाली का रेट फिक्स है?
नहीं। पहली बार दिलाने का कमीशन 50 प्रतिशत तक ले लेते हैं। वैसे सामान्य रेट 20 प्रतिशत का है।

मतलब चार लाख का ग्रांट पास करवाते हैं और दो लाख जेब में रख लेते हैं?

हाँ भई।

वैसे ग्रांट के लिये वाया भोपाल आना ठीक है या वाया पटना?

एक ही बात है। हालांकि आजकल वाया रांची का मार्केट अच्छा है। रेट भी थोड़ा कम है। आज कल अच्छे ऑफर भी आ रहे हैं मार्केट में।

ओह... ऑफर क्या?

ग्रांट लेकर नाटक तो कर लोगे, पर शो का क्या? फेस्टिवल में नाटक लगावा लेना असली खेल है बेटा। अब देखो न पटना से लेकर बेगूसराय, भोपाल, दिल्ली, केरला, हिसर, कोलकाता, ऊज्जैन जहां भी ग्रांट से बड़े बजट के प्राइवेट फेस्टिवल हो रहे हैं, सबकी सेटिंग ही होती है। ज्यादा कमीशन लगता है तब भी इसीलिये सब भोपाल और पटना की तरफ दौड़ लगते हैं। फेस्टिवल की सबसे बड़ी लालौंगी वहीं से ऑपरेट होती है। दो-तीन शों लग गये न बेटा तो कमीशन का खर्च वापस आ जाता है। धीरे-धीरे स्टेब्लिश भी हो जाओगे।

मतलब... स्टेब्लिश भी कराने का ठेका लेते हैं?

अब धोंचू कुछ जानते भी हो मार्केट के बारे में? आजकल इसी तरह स्टेब्लिश होते हैं। कोई क्लासिक उड़ा लो, नेट पर सर्च मारो, क्या नहीं है वहां? एकदम रेडीमेड सब कुछ मिल जायेगा। डिजाइन, एक्टिंग, कॉस्ट्यूम, घृजूक जूक सब कुछ। बस दिमाग लगाओ, कॉर्पो मारो, नाटक तैयार। दो चार कहानियां इधर-उधर से उड़ाओ, फैंट-फैट कर कोई उड़ती सी स्टोरी बन जायेगी। कुछ इम्प्रोवाइड कर-करके नयी स्ट्रिप्ट तैयार। अब तुम भी बन गये नाटककार। ज्यादा दूर क्या जाना, आसपास देखो कई ऐसे नाटककार दीख जायेंगे। हमारे दौर के नाटककार भी वही लोग हैं, जो एकतर भी हैं, डायरेक्टर भी और ऑर्गनाइजर भी।

ये लोग आज कल थिएटर के बी बनाने लगे हैं। समीक्षक की जरूरत ही किसे है?



होने के लिये?

तोड़ आसान है? इतना की नहीं। असली खिलाड़ी तब माने जाओगे जब फेस्टिवल ऑर्गनाइज करने लग जाओगे। अपने पड़ोसी, रिसेदार, प्रेमिका और चमचों को कुछ लाभ देने-दिलाने का स्टेटस पा लोगे। किसी को रेपर्टरी, किसी को कुछ और। जब तुम्हारे आगे-पीछे दस-बीस लोग चक्र कराएंगे, जय-जय करोंगे, तब समझना कि स्टेब्लिश हो गये। बहुत स्ट्राइल है भाई।

पर रंगकर्मी तो कुछ दूसरे तरह के होते हैं, जैसे हवाब साहब, प्रसन्ना, हाशमी, गुरशरण सिंह, कर्नाइलाल का व्यक्तित्व तो अलग तरह का है। उनके बारे में सोच कर सिहरन होती है, रोंगटे खड़े होने लगते हैं। किस तरह अपनी महत्वाकांक्षाओं को, अपने जीवन को गला कर, मूल्यों को तपा कर उड़ाने समाइ के लिये, कला और समाज की ऊति के लिये सर्वस्व दिया। बदले में पद, पुरस्कार, सुविधाओं की कभी अपेक्षा नहीं की। फिर आज के ये लोग क्या रंगकर्मी कहलाने लायक हुए? किसके बहकावे में आ गये भाई? यह सब कहने की बातें हैं। जीवन मूल्यों और आदर्शों से नहीं चलता। भूखों मरना हो तो ठीक है।

भाई हम तो रंगकर्म करने आये थे। यहां तो कुछ और ही मामला है। लगता है हम गलत जगह आ गये।